24

मित्रों के कुछ मनोरंजक प्रसंग

अर्जुन चौबे काश्यप

काश्यपजी, बड़े जिंदादिल व्यक्ति थे। एक बार जब वे मेरे यहाँ रहते थे, मेरे एक रिश्तेदार रामेश्वरजी चौधरी कोलकाता जाते हुए गया में रूक गये। उसी समय हमारी जमींदारी का एक गुमाश्ता भी आया हुआ था। वह कोलकाता के रेल मार्ग पर कोडरमा के पास के हमारे एक गाँव में नियुक्त था जहां हमारी दो अबरख की खानें थीं जिन्हें चोरडीहा और हीराखान के नाम से जाना जाता था। मैंने सुना था कि रायसाहब के समय, राजस्थान से एक संबंधी को बुलाकर उन खानों पर भेजा गया था जहाँ एकाएक बीमारी से उसकी मृत्यु हो गयी थी। उसकी मृत्यु से रायसाहब को इतना आघात लगा था कि उन्होंने उक्त खानों की ओर दुबारा किसीको नहीं भेजा और उन्हें उपेक्षित छोड़ दिया। मैंने डेलवा नामक हमारे उक्त गाँव की कई विशेषताएं सुन रक्खी थीं। वह घनघोर जंगली इलाकें में था जहाँ शेर, चीते आदि वन-पशुओं के दर्शन भी हो सकते थे। वहाँ एक नदी इतनी घूमती हुई बहती थी कि डेलवा स्टेशन से उतर कर गाँव पर पहुचने में 4-5 बार उसी नदी को लाँघना होता था। उक्त गाँव के कर्मचारी के आने से काश्यपजी को और रामेश्वरजी चौधरी को अपना वह गाँव दिखाने और स्वयं भी देखने की इच्छा से मैंने वहाँ जाने का निश्चय किया। दूसरे दिन सुबह की ट्रेन से गया से चलकर दोपहर तक हम डेलवा स्टेशन पर पहुँच गये और पाँवोंपाँव चलकर वहाँ की पहाड़ी नदी को तीन-चार बार लाँघते हुए अपनी गाँव की कचहरी में जा पहुँचे। रात में विश्राम करने के बाद सुबह जंगल में घूमने का और अपनी खानों को देखने का मैंने निश्चय किया। गाँव में खेती की जमीन और रैयतों के तो घर बहुत थोड़े ही थे परंतु जंगल की हमारी निजी भूमि प्रायः दो हजार एकड़ थी। सुबह तीन घोड़ियों की व्यवस्था हमारे लिए हो गयी और हम तीनों एक-एक घोड़ी पर चढ़कर जंगल की सैर को निकले। कर्मचारी नन्हकूसिंह साथ-साथ पैदल चल रहा था। मैंने उससे अपनी खानों को दिखाने

को भी कहा था और वह उसी मार्ग पर जा रहा था जहाँ वे खानें थीं। आगे की घोड़ी पर काश्यपजी, उसके पीछे मैं और मेरे पीछे की घोड़ी पर रामेश्वरजी चौधरी चल रहे थे। बगल में नन्हकूसिंह पैदल चल रहा था। काश्यपजी तो विनोदी स्वभाव के थे ही। बोले, 'देखो मैं घोड़ी पर नाच दिखाता हूँ' और दोनों हाथों में लगाम छोड़कर वे नृत्य की भंगिमाएं बनाने लगे। उन्हें घोड़ी पर नाचते देखकर हम लोगों का हँसते-हँसते बुरा हाल था। अचानक नन्हकूसिंह ने पुकारा, 'बाबू, आगे थोड़ी दूर पर ही आपकी खानें हैं। यदि उतरकर देखना चाहें तो देख सकते हैं।' नन्हकूसिंह को पता नहीं था कि उपेक्षित पड़ी खानों में शेर ने अपनी माँद बना ली है। घोड़ी थोड़ी आगे बढ़ी ही थी कि एकाएक शेर की गंध आयी और काश्यपजी की घोड़ी बड़ी तेजी से भागी। वे नृत्य की मुद्राएँ भूलकर उसके गले से चिपट गये। नन्हकूसिंह ने पुकारा 'बाबू, यहाँ लगता है, शेर रहने लगा है, जल्दी से घोड़ी को आगे बढ़ाने की कोशिश करें। मैं भी भागता हूँ।' हम दोनों को अपनी घोड़ियों को आगे बढ़ाने के लिए कोई प्रयत्न नहीं करना पड़ा। शेर की गंध पा कर वे भी काश्यपजी की घोड़ी के पीछे-पीछे तेजी से भागीं। काश्यपजी को अपना नृत्य भुलाकर घोड़ी से सटे-सटे आगे भागते देखकर हमें भय में भी हँसी आ रही थी। मील दो मील अपनी खानों से आगे निकल जाने पर हमारी जान-में-जान आयी। नन्हकूसिंह भी भागता दौड़ता हमसे आ मिला। काश्यपजी की नृत्य-कला समाप्त हो चुकी थी। जब हम नदी के किनारे पहुँचे तो वहाँ की रेत पर भी नन्हकूसिंह ने हमें हिरन आदि अन्य जानवरों के साथ शेर के पाँवों के निशान भी दिखाये जो रात में पानी पीने आया होगा। शेर के पावों के निशान तो देखे पर मैं अपनी खानों को देखने से वंचित रह गया। इसके कुछ दिनों बाद ही बिहार सरकार ने जमींदारी-उन्मूलन कानून के आधार पर वह गाँव ले लिया और वन-अधिग्रहण के कानून के आधार पर हमारी दो हजार एकड़ जमीन भी ले ली। भतृहरि ने अपने वैराग्य शतक में लिखा है, **वित्ते नृपालात् भयं।** यदि चोर भी चोरी करता है तो वह भी एक साथ सब कुछ चुराकर नहीं ले जाता है। परंतु राजा के लोभ की तो सीमा ही नहीं होती। उक्त जंगल का वार्षिक मुआवजा दो आना एकड़ की दर से प्रायः 2-3 सौ रुपये तय किया गया जिसे लेने के लिए कचहरी में आने की सूचना प्रतिवर्ष हमें दी जाती थी। उसे एक दूसरे सबडिविजन में जाकर वहा की कचहरी से लेना था। संयुक्त परिवार की संपत्ति होने से प्रत्येक व्यक्ति के हिस्से में इतनी छोटी रकम आती

थी कि हममें से किसीने भी उसे लेने जाने का कष्ट स्वीकार नहीं किया। अंत में अभी 10-12 वर्ष पूर्व जंगल की पूरी कीमत प्रायः 50 हजार रुपये तय होने पर हमने वह कीमत लेनी स्वीकार की। परंतु 50 हजार रुपये हमें नगद नहीं 30 वर्ष आगे के बौंड के रूप में मिले और उन बौंडों को लेने के लिए भी हमें प्रायः चौथाई रकम नकद खर्च कर देनी पड़ी। बौंड की नकद कीमत बाजार में उनकी दी हुई राशि से आधी थी। हमने उन्हें बेचकर प्राय पच्चीस हजार रुपये नगद पाये। उनका अपने हिस्से के अनुसार चार भागों में बँटवारा करके हर व्यक्ति के हिस्से के रुपये की राशि अत्यंत नगण्य थी। उसमें से उन्हें लेने में जो राशि पास से खर्च की गयी थी, यदि वह निकाल दी जाती तो एक प्रकार से मुआवजे का बहाना मात्र था। अबरख की खानों का मूल्य तो आजतक सरकारी दफ्तरों में घूम रहा है। प्रतिवर्ष मार्च के महीने में लगता है कि 50-60 हजार रुपये की राशि हमें उक्त खानों के मुआवजे के रूप में मिलनेवाली है परंतु अंतिम समय में या तो सरकार बदल जाती है या वह विभागीय अफसर बदल जाता है। भर्तृहरि की **वित्ते नृपालात् भयं** की उक्ति का यह एक छोटा सा उदाहरण है। मेरा भतीजा हरेकृष्ण अबरख की खानों का मूल्य सरकार से लेने के लिए पिछले 30-40 वर्षों से दौड़ रहा है और इस कार्य में हजारों रुपये व्यय भी हो चुके हैं परंतु जब रुपयों के मिलने की बारी आती है तो कुछ ऐसी उलझनें आ जाती हैं कि फाइल **बैताल पचीसी** के बैताल की तरह फिर वापस लौट कर बड़े बाबू के पास पहुँच जाती है। चूँकि उस समय पुराने बड़े बाबू के स्थान पर नये बड़े बाबू और पुराने अफसर के स्थान पर नये अफसर आ चुके होते है, फिर से उनको राजी करने की प्रक्रिया शुरू हो जाती है।

कामता बाबू

कामता बाबू (श्री कामता प्रसाद सिंह 'काम') से मेरा परिचय 1949 में हुआ। उन्होंने स्वयं मेरे निवास पर आकर मुझे अपना परिचय दिया। परिचय के दिन से ही हम दोनों में प्रगाढ़ मित्रता स्थापित हो गयी। मैं उन्हें अपने बड़े भाई के समान समझने लगा। मैं गया जिला हिंदी साहित्य सम्मेलन का वार्षिक अधिवेशन करनेवाला था जिसके सभापतित्त्व के लिए मैंने उनका नाम प्रस्तावित कर दिया। वह सम्मेलन बड़ी धूमधाम से संपन्न हुआ। उसी वर्ष मैंने रामवृक्ष वेनीपुरी के कहने से गया में विहार हिंदी साहित्य सम्मेलन का अधिवेशन आमंत्रित कर दिया जिसमें कामताबाबू स्वागताध्यक्ष बने और अर्जुन चौबे काश्यप

स्वागतमंत्री। अधिवेशन के सभापति लक्ष्मीनारायण सिंह सुधांशु चुने गये। सुधांशुजी उसी वर्ष बिहार प्रदेश कांग्रेस कमेटी के भी अध्यक्ष चुने गये थे। अधिवेशन कामताबाबू के कारण बड़ी धूमधाम से संपन्न हुआ। गया के साहित्यिक समाज में कामता बाबू के आने से नया जीवन आ गया। अर्जुन चौबे काश्यप तो मेरे भवन में रहते ही थे, कामताबाबू का भी दौरा प्रारंभ हो गया और मेरा निवास साहित्यिक गतिविधि का केंद्र बन गया। मैं जिन महान विभूतियों के संपर्क में आया हूँ, कामता बाबू का स्थान उनमें सब से निराला है। उनकी विलक्षणताएं गिनाने के लिए तो अलग से एक ग्रंथ की रचना करनी पड़ेगी, यहाँ उनके अनूठे चरित्र की कुछ झाँकियाँ देकर ही संतोष करूँगा। मैंने अनेक संस्मरणों में उनके चरित्र की अनेक विशिष्टताओं का बखान किया है। जिस दिन से उनसे परिचय हुआ, मैं उनका भक्त बन गया। यद्यपि कवि के रूप में वे मुझे बहुत ऊँचा स्थान देते थे परंतु मैं उन्हें अपने बड़े भाई के समान ही आदर देता था। हिंदी गद्य की शैली में वे अपनी सानी नहीं रखते थे। परंतु केवल लेखन तक ही नहीं, अपने जीवन में भी वे वैसे ही अतुलनीय थे। उनके जीवन का अनुकरण नहीं किया जा सकता था परंतु उससे बहुत कुछ सीखा अवश्य जा सकता था। उनके बहुआयामी व्यक्तित्व पर प्रकाश डालने के लिए तो महाग्रंथ भी छोटा पड़ जायगा। उनकी मृत्यु-तिथि के एक आयोजन में, जिसमें मैं भी सम्मिलित हुआ था और माननीय जगज़ीवन रामजी पधारे थे, जगजीवन बाबू ने कहा कि यदि मैं कवि होता तो कामता बाबू पर महाकाव्य लिख देता। यों तो मैं कामता बाबू के साथ कार और ट्रेन से दूर-दूर की यात्रा करता रहा हूँ पर 1951 की एक यात्रा की थोड़ी झाँकी ही यहाँ प्रस्तुत करूँगा जिससे उनके व्यक्तित्व की हलकी-सी झलक मिल सकेगी। 1951 में कांग्रेस में विहार विधान सभा के लिए प्रत्याशी बनने के लिए जाते समय वे मुझे भी दिल्ली साथ ले गये। वहाँ हम लोग प्राय 15-20 दिन इस कार्य के लिए ठहरे। कामता बाबू ने दिल्ली पहुँचते ही मुझसे कहा, 'गुलाबजी, हमें दो बातों पर ध्यान रखना है। जब तक हम दिल्ली में रहें, प्रत्येक दिन कोई न कोई ऐसा आयोजन करते रहें कि अंग्रेजी और हिंदी के प्रमुख पत्रों में उसकी चर्चा होती रहे।' ऐसा केवल वही सोच सकते थे और करके भी दिखा सकते थे वरना दिल्ली जैसे महानगर में उन दिनों की बड़ी-बड़ी विभूतियों के बीच ऐसा करना किसके वश की बात थी!

दूसरी बात जो उन्होंने कही वह यह थी— 'विधान सभा की टिकट मिले या ना मिले, हमें यहाँ प्रत्येक दिन इस प्रकार बिताना है कि यहाँ की यात्रा को

एक उत्सव के रूप में ले सकें।' जीवन के प्रति यह दृष्टिकोण रखने का मैंने भी जो यत्किंचित् प्रयास किया है उसमें कामताबाबू के साहचर्य ने और इस स्वस्थ एवं विधायक दृष्टिकोण ने मुझे बड़ी प्रेरणा दी है। प्रसंगवश यहाँ यह बता दूँ कि अंत में बिहार के प्रमुख नेता और अर्थमंत्री डां. अनुग्रह नारायण सिंह के तीव्र विरोध के कारण कामता बाबू को विधानसभा की टिकट नहीं मिल सकी। अनुग्रहबाबू कामताबाबू के क्षेत्र के ही निवासी थे और चूँकि कामता बाबू बिहार के नेतृत्व में उनके प्रतिद्वंद्वी मुख्यमंत्री श्रीकृष्णसिंहजी के उन दिनों समर्थक थे, वे उनकी आँखों में सदा खटकते रहते थे। अंत में अनुग्रह बाबू ने चुनाव-समिति में यहाँ तक कह दिया कि यदि कामता बाबू को सीट दी जाती है तो मेरी ही सीट उन्हें दे दी जाय। इसके बाद कोई क्या कहता! मीटिंग के अंत में जवाहरलाल नेहरू ने नीचे ड्राइंगरूप में प्रतीक्षा में बैठे कामताबाबू को देखकर कहा - 'नौजवान, तराजू के एक पलड़े पर डा. अनुग्रहनारायण सिंह की कुरवानी के 34 वर्ष और दूसरे पलड़े पर तुम्हारी सीट, हम क्या करते! मुल्क की खिदमत करने के और भी तरीके हैं।' सीट न मिलने पर भी कामता बाबू के साथ 15 दिन जिस आनंद-मंगल के साथ हमने बिताये उसकी याद आज भी ताज़ा है। यह उल्लेखनीय है कि बाद में अपने नेता माननीय कृष्णबल्लभ सहायजी के साथ वे अनुग्रह बाबू की ओर हो गये थे और सत्ता से विमुख रह कर भी अपने व्यक्तित्व के बल पर वैसे ही शक्ति-संपन्न बने रहे।

मैंने प्रसंगवश यहाँ दिल्ली यात्रा की चर्चा कर दी है। माननीय जगजीवन रामजी के इच्छानुसार, मैंने उनपर महाकाव्य तो नहीं लिखा है पर उनके जीवन पर प्रकाशित संस्मरणों की पुस्तक में मेरे लिखे हुए संस्मरणों से कामता बाबू का अधिक परिचय मिल सकता है। 1949 में हम दोनों मिले और 1963 में उनकी मृत्यु तक यह स्नेह-संबंध बना रहा। 1950 के अप्रिल मास में बिहार हिंदी साहित्य सम्मेलन का 21वाँ अधिवेशन जो गया में मैंने आमंत्रित कर दिया था। उस अधिवेशन की सफलता का सारा श्रेय उन्हींको है। कामताबाबू के विरोधी गुट में रहने पर भी माननीय अनुग्रह बाबू ने उसका उद्घाटन किया था। वह जितना वृहत् आयोजन हुआ था तथा प्रदेश एवं प्रदेश के बाहर के जितने साहित्यिकों ने उसमें भाग लिया था, वैसा आयोजन एवं उतने साहित्यिकों की उपस्थिति अखिल भारतीय आयोजनों में भी नहीं हो पाती थी। उसमें साहित्यिकों के स्वागतार्थ मैंने नीचे दी गयी **जनमन-गायक** नामक रचना लिखी थी तथा सरस्वती-वंदना में गाने के लिए **जीवन सफल करो** नामक गीत लिखा था जो

गाया गया था। मित्र के सुख-दुःख को समझनेवाला कामता बाबू जैसा स्नेही मित्र बड़े भाग्य से मिलता है।

जन-मन-नायक! हे जन-गायक! जन-जीवन-ध्रुवतारा
हे प्रबुद्ध! इस बुद्ध-भूमि में स्वागत आज तुम्हारा
वीणा-वादिनि! उर-आह्लादिनि! कवि-कुल-नाद-तरंगे
गगन-विहारिणि! जग-जन-तारिणि! अयि साहित्यिक गंगे!
स्वागत हे नव-रस भागीरथि! आओ इस मरु-पथ पर
अंतः-सलिले! स्नेह-ऊर्मिले! करुणा-कुसुमित-अंगे!
फूटे त्वरित, भरित सुषमा से स्वर-सरस्वती-धारा
तुसली-सूर-कबीर-कूजिता, पूजित देव-बिहारी
भारत-भाल-भाग्य-बिंदी हिंदी के अहे पुजारी!
स्वागत करती डरती-डरती, दीन-हीन यह नगरी
चिर-अभिशप्ता, जरासंध की यह तप्ता फुलवारी
नहीं यहाँ कोकिल का कूजन, नहीं राजपथ न्यारा
अनुक्षण-गर्जित, कण-सुख-वर्जित, वाहक काल-सरिता के!
चिर-आनंदित! हे स्वर्वंदित! योग तुम्हीं सत-चित् के
अमृत-विलासी! जगत-प्रकाशी! हे मृदुभाषी हित के!
रस-सिंचन-वंचित क्या अब भी प्राण-प्रसून तृषित के!
भावों से अभाव को ढँकती कवि-भारती उदारा
जन-मन-नायक! हे जन-गायक! जन-जीवन-ध्रुवतारा
हे प्रबुद्ध! इस बुद्ध-भूमि में स्वागत आज तुम्हारा

जीवन सफल करो
करूँ आरती, मातु भारती! चरण, चरण उतरो
फूले फेनिल जलनिधि-सा मन
कल्लोल्लित, हिल्लोलित यौवन,
शारद-हासिनि! हे नभ-वासिनि! स्वर-आभरण धरो
तृण-तरु-चेतन, भू-नभ-कविता
नखत रजत-अक्षर, रज-सविता

अमृत-विलासिनि! जगत-प्रकाशिनि! जन-जन-मन विहरो
करुणामयि, शतरूपिणि, धन्या
अंतर-छाया-ज्योति अनन्या
भव-भय-नाशिनि! हृदय-हुलासिनि! मंगल-राग भरो
जीवन सफल करो
करूँ आरती, मातु भारती! चरण-चरण उतरो

अर्जुन चौबे काश्यप तथा शंभुनाथसिंह

प्रसाद-परिषद् के सदस्यों में अर्जुन चौबे काश्यप, डा शंभुनाथ सिंह, तथा बेघड़क बनारसी के नाम से प्रसिद्ध हास्यरस के कवि काशीनाथ उपाध्याय, 'भ्रमर' से मेरा मित्र का-सा संबंध आजीवन बना रहा। यद्यपि ये सभी वय और विद्या में मुझसे बहुत आगे थे परंतु मुझे तो प्रारंभ से ही अपने से अधिक अवस्था वाले सहपाठियों के साथ ही मित्रता रखनी पड़ी थी। मैं 13 वर्ष की अवस्था में स्कूल की ग्यारहवीं कक्षा में आ पहुँचा था जिस अवस्था के अन्य विद्यार्थी सातवीं आठवीं कक्षा से ऊपर नहीं दिखाई देते थे। ग्यारहवीं कक्षा में भी अपने साहित्यिक अध्ययन और कवित्व के स्फुरण के कारण मैं अपने से बड़ों से आदर-सम्मान ही पाता था। अतः **प्रसाद परिषद्** के उपर्युक्त सदस्यों से मित्रता में समानता का अनुभव करने में मुझे किसी कठिनाई का अनुभव नहीं होता था। इसके विपरीत **प्रसाद परिषद्** के सदस्य, माननीय संपूर्णानंदजी, पं. सीताराम चतुर्वेदी, पं. विश्वनाथ प्रसाद मिश्र, पं. करुणापति त्रिपाठी, बेढबजी, पं. जगन्नाथ प्रसाद मिश्र आदि मेरे लिए प्रतिष्ठित देव-प्रतिमाओं के समान थे जिनसे स्नेह, प्रशंसा, प्रोत्साहन पाने की मेरी कामना बनी रहती थी।

अर्जुन चौबे काश्यप बड़े मुक्त हृदय के कवि और नाटककार थे। उनके मस्तमौला स्वभाव का कुछ चित्रण पिछले पृष्ठों में हो चुका है। उन्होंने दर्जनों एकांकी लिखे थे और उनके तीन चार संग्रह भी प्रकाशित कराये थे। गया कालेज में प्राध्यापक बनकर वे वर्षों मेरे भवन में नीचे के कमरे में रहते थे। बाद में उनका परिवार आने पर मैंने अपनी बाग में स्थित कोठी में उन्हें निवास दे दिया था। उनके निवासकाल में मेरे यहाँ बैठक में कलाकारों का जमघट रहता था। गया के साहित्यिक जीवन में भी एक उबाल आ गया था। काश्यपजी अपने चारों ओर अभिनय करने में पटु नवयुवकों की मंडली जुटाये रहते थे और मेरे भवन के एक तल्ले पर स्थित हॉल में नित्य किसी-न-किसी नाटक का रिहर्सल

(पूर्वाभिनय) होता रहता था। मेरे बाग में दो-तीन वर्ष रहने के बाद न जाने उनके जी में क्या आया कि वे मुझसे किराया लेने का आग्रह करने लगे। मैंने कभी उन्हें किरायेदार नहीं समझा था और भवन में रहते समय भी कभी उनसे किराये की अपेक्षा नहीं रक्खी थी। मेरे इन्कार करने पर वे तिनककर परिवार के साथ बिना मुझे बताये चुपचाप एक किराये के घर में अन्यत्र चले गये। बाद में वे गया के निकट के नगर औरंगाबाद के एक कालेज के प्रिंसिपल होकर रहे जहाँ से वे प्रतापगढ़ के मुनीश्वर दत्त डिग्री कालेज के प्राचार्य बन कर मेरी ससुराल के नगर में आ गये। वहीं 1963 में उनका देहांत हुआ। प्रतापगढ़ में आ बसने के कारण अंत तक उनसे मेरा संपर्क बना रहा। उनकी मृत्यु से मेरा एक अनन्य सहयोगी चला गया जो अपने सहज, स्नेहपूर्ण व्यवहार और दीर्घ संपर्क के कारण मेरे परिवार का अंग बन गया था।

काश्यपजी के एक एकांकी-संग्रह का, जिसमें **कवि-प्रिया** पहला एकांकी था, नाम भी उन्होंने **कवि-प्रिया** ही रक्खा और वह संग्रह भी मुझे ही समर्पित किया। उस एकांकी की घटना इस प्रकार है—एक बार कवयित्री चंद्रमुखी ओझा 'सुधा' गया में मेरे आमंत्रण पर कवि-सम्मेलन के लिए आयी थीं और कवि सम्मेलन के बाद मेरे निवास पर ही प्रायः एक सप्ताह रुकी रहीं। प्रतिदिन कहीं न कहीं कविगोष्ठी होती थी जहाँ उसका कवितापाठ होता था। कविता का रस कितने लोग लेते थे, मैं नहीं जानता, पर उसके रूप, यौवन और स्वर के प्रभाव से गया की साहित्यिक गतिविधि में जान आ गयी थी। मेरी पत्नी उन दिनों अपने मायके गयी हुई थी और ऊपर के तीसरे तल्ले में चंद्रमुखी और मैं था तथा नीचे के पहले तल्ले के एक कमरे में काश्यपजी का डेरा था। हम दोनों कवि थे और काश्यपजी थे नाटककार। नाटककार के लिए इससे अच्छा रोमांटिक नाटकीय परिवेश और क्या उपलब्ध हो सकता था ! उन्होंने अपनी कल्पना को मुक्त विचरने दिया और **कवि-प्रिया** एकांकी की रचना ही नहीं की, उसका अभिनय भी गया में करवा दिया। सभी लोगों को पता था कि इस एकांकी का नायक मैं हूँ और नायिका चंद्रमुखी है अतः अभिनेता और दर्शक, सभी ने उसमें बहुत रस लिया।

यथार्थ केवल घटनाओं के घटित होने से ही माना जाता है परंतु नाटक का एक काल्पनिक यथार्थ भी होता है जो संभावना के द्वारा नाटककार अपनी लेखनी से चित्रित करता है। उपन्यासकार की भी यही खूबी है कि वह कल्पना और यथार्थ के अंतर को मिटा देता है। इस दृष्टि से काश्यपजी का उपर्युक्त एकांकी सफल है और उनके श्रेष्ठतम एकांकियों में गिना जायगा।

प्रसाद परिषद् के दूसरे सहयोगियों में डां. शंभुनाथ सिंह ही एक मात्र ऐसे व्यक्ति थे जिन्होंने मेरी तरह अपनी काव्य-यात्रा अंत तक जारी रक्खी और नव-गीत के आंदोलन के सूत्रधार बने। प्रारंभ में वे 'रसिक' उपनाम से गीत लिखा करते थे परंतु बाद में उन्होंने प्रगतिवाद से प्रभावित होकर वह उपनाम छोड़ दिया। वे **प्रसाद परिषद्** के एक मात्र ऐसे सदस्य थे जो सन् 1940 से निरंतर उसकी पाक्षिक बैठकों में काव्य-पाठ में मेरा साथ देते थे। मैं 1943 में काशी छोड़ने के बाद से 1969 तक, जब तक बेढबजी जीवित रहे, दो-तीन महीनों में एक बार **प्रसाद परिषद्** की बैठक में भाग लेने या अन्य किसी विशिष्ट साहित्यिक आयोजन में सम्मिलित होने को बनारस अवश्य पहुँच जाता था जहां शंभुनाथजी से भेंट हो जाया करती थी। गया में समय-समय पर मैं जो साहित्यिक आयोजन या कविसम्मेलन करता, उसमें भी उन्हें बुलाया करता था। मेरा उनका मैत्री-संबंध अंत तक बना रहा। उन्हें कविता पाठ के लिए अमेरीका बुलाने की विधि भी पूरी कर ली गयी थी परंतु इसी बीच वे चल बसे। उनसे संबंधित एक-दो रोचक संस्मरण सुनाने का लोभ मैं नहीं रोक पाता हूँ।

शंभुनाथसिंह का प्रतिशोध

एक बार मैंने गया के एक कविसम्मेलन में शंभुनाथजी को बुलाया। उस समय अर्जुन चौबे काश्यप भी वहीं थे। काश्यपजी के साथ मैं उन्हें लेने स्टेशन गया। काशी से आनेवाले अन्य दो-तीन कवियों के साथ मैं उन्हें लेकर आ रहा था कि एकाएक वे हमारे बीच में से तेजी से निकले और एक भूटानी यात्री की ओर झपटे। उन्होंने आव देखा न ताव, उस भूटानी को थप्पड़ और मुक्कों से मारना प्रारंभ कर दिया। जब तक वह गरीब कुछ सँभले और सिर पर इस अप्रत्याशित पुष्पवर्षा का उसी शैली में समुचित धन्यवाद दे, तब तक चारों ओर खड़ी भीड़ ने उन दोनों को पकड़ लिया और काश्यपजी लपककर शंभुनाथजी को खींचते हुए हम लोगों के पास ले आये। मैं हक्का-बक्का खड़ा था और समझ नहीं पा रहा था कि शंभुनाथजी के मन में एकाएक इस प्रकार एक निरपराध भूटानी यात्री को पीटने की बात क्यों आयी। पंचतंत्र की एक कथा में तो पढ़ा था कि एक सेठ को लक्ष्मी ने वरदान दिया था कि मैं कल प्रभात में जैन भिक्षु बनकर आऊँगी। तुम लाठी से मेरे सिर पर प्रहार करोगे तो मैं स्वर्णराशि में बदल जाऊँगी और पुनः तुम्हारी गिरी हुई स्थिति सुधार दूँगी। वह भूटानी यात्री थप्पड़ और मुक्कों की वर्षा में अपने गहरे लाल वस्त्रों में लिपटा वैसा ही भौचक्का-सा खड़ा था। उसके स्वर्ण या कम से कम रजत-राशि में परिवर्तित

होने का भी कोई लक्षण नहीं दिखाई दे रहा था। फिर शंभुनाथजी ने ऐसा क्यों किया, मैं समझ नहीं पाया। काश्यपजी ने मेरे कान में कहा - 'शंभुनाथ पर पागलपन का दौरा आ गया है। सँभालकर घर ले चलना है।' मैं **प्रसाद् परिषद्** में और कवि-सम्मेलनों में भी शंभुनाथजी की कविताएं सुनता आ रहा था परंतु उनके कवि होने के दावे का इतना बड़ा प्रमाण कभी नहीं पा सका था। पहली बार मैं उनकी कवित्वशक्ति के सम्मुख नतशिर हो गया। जो काम उनकी कविता नहीं कर सकी थी, वह काम उनके पागलपन के दौरे ने किया। मैं निरालाजी का पागलपन समय-समय पर देख चुका था और मेरे मन में, कवित्व और पागलपन में कोई संबंध या अनुपात है, यह धारणा बद्धमूल हो गयी थी। मुझ पर कभी इस प्रकार के पागलपन के दौरे क्यों नहीं आते, यह सोचकर अपनी कवित्व-शक्ति की इस त्रुटि पर मेरा मन मुझे धिक्कारने लगा। घर पहुँचने पर मैं किसी उपचार की व्यवस्था करूँ इसके पूर्व ही शंभुनाथजी को अत्यंत सहज स्थिति में सब से बातें करते देखकर मेरा जी हलका हो गया। बाद में इस हनुमान द्वारा लंकिनी पर मुष्टि-प्रहार किये जाने जैसे दृश्य का जो विवरण शंभुनाथजी ने स्वयं भी दिया वह एक प्रकार से उनके कविरूप का ऐंटीक्लाइमेक्स या अवमूल्यन जैसा था।

बात यह हुई थी कि ट्रेन के जिस डिब्बे में शंभुनाथजी अपने तीन-चार कविमित्रों के साथ आ रहे थे उसी डिब्बे में सवार होकर दो-तीन तिब्बती भोटिये भी गया में भगवान बुद्ध के दर्शनों को आ रहे थे जिनमें वह भोटिया भी था जिस पर शंभुनाथजी ने मुक्के और थप्पड़ों की वर्षा की थी। शभुनाथजी **चिल्लड़ मारे भोटिया** कहकर अपने मित्रों में उसे दिखा-दिखाकर ट्रेन में हास-परिहास करते आ रहे थे। बीच में डिहरी स्टेशन पर गाड़ी थोड़ी देर तक ठहरती थी। सभी लोग जिनमें वे भोटिये भी थे, ट्रेन से उतरकर एक टी-स्टाल पर चाय पीने लगे। एकाएक उस भोटिये ने, जिसे गया स्टेशन पर शंभुनाथजी के वीरत्व का आलंबन बनना पड़ा था, उछलकर शंभुनाथ जी पर थप्पड़ और मुक्कों की वर्षा आरंभ कर दी। शंभुनाथजी इस थप्पड़-मुक्कों की अकाल पुष्प-बृष्टि के लिए अपनी राजपूती शैली में कुछ समुचित साधुवाद दें, इसके पूर्व लोगों ने उन्हें पकड़ लिया। इतने में गार्ड़ ने सीटी दी और सभी लोग दौड़कर अपने-अपने स्थान पर जा बैठे। शंभुनाथजी पिट चुके थे। उनका राजपूती खून पिट जाने के आघात से डिहरी से गया तक अंदर ही अंदर खौलता रहा था। शारीरिक आघात तो कुछ नहीं था परंतु मानसिक आघात की यंत्रणा उन्हें बेचैन कर रही थी। इसीका प्रतिशोध उन्होंने गया स्टेसन

पर लिया था। इस बार बाजी उनके हाथ में थी और वह भोटिया अपने पर किये गये आक्रमण का उत्तर दे इसके पूर्व ही लोगों ने उसे उसी प्रकार रोक लिया था जिस प्रकार पहले शंभुनाथजी रोक लिए गये थे। जब मैंने शंभुनाथजी से कहा कि मुझे तो काश्यपजी ने कहा कि आप पर पागलपन का दौरा आ गया है और इस कारण आपको मैं बहुत बड़ा कवि मानने लगा था तो उन्होंने हँसकर कहा —

'यह तो पागलपन का दौरा नहीं था परंतु यदि मैं उस भोटिया को थप्पड़ और मुक्कों से मार कर अपनी मार का बदला नहीं ले लेता तो मैं निश्चय ही पागल हो जाता।'

एक दूसरी रोचक घटना **शंभुनाथसिंह और जौनपुर के सुप्रसिद्ध कवि क्षेमजी** से संबंधित भी याद आती है। एक बार आरा के एक कविसम्मेलन में मैं, शंभुनाथजी और मेरे एक दूसरे कवि-मित्र जौनपुर के श्रीपालसिंह 'क्षेम' अगल-बगल के कमरों में ठहराये गये थे। कविसम्मेलन रात के तीन बजे समाप्त हुआ। मंच से उतरकर हम लोग जब जाने लगे तो क्षेमजी ने देखा कि उनके जूते गुम हो गये हैं। उन्होंने लपककर शंभुनाथजी के जूते पहन लिये। जब शंभुनाथजी अपने जूते ढूँढ़ने लगे तो श्रीपाल सिंहजी के पाँवों पर उनकी दृष्टि पड़ी। वे बोले, 'क्षेमजी, ये जूते तो मेरे है।' क्षेमजी ने कहा 'मेरे जूते किसीने पहन लिये हैं। आप उन्हें ढूँढ़ दें तो मैं ये जूते आपको लौटा दूँ।' यद्यपि शंभुनाथजी के जूते पुराने थे और क्षेमजी के पाँवों में भी शायद ठीक से न आते हों परंतु 'भागते भूत की लँगोटी भली' की कहावत के अनुसार कवि-सम्मेलन के स्थान से नंगे पाँव लौटने की व्यथा से बचने के लिए उन्होंने यह कुतर्क अपना लिया। शंभुनाथजी ने मुझे निर्णायक बनाकर कहा कि मैं जो कहूँ वही मान्य होगा। मैंने शंभुनाथजी के पक्ष में निर्णय दिया पर क्षेमजी कब माननेवाले थे! उन्होंने कहा, 'मैं किसी भी अवस्था में इन्हें छोड़नेवाला नहीं हूँ। किसी न किसी को तो जूतों के अभाव को झेलना ही है। क्यों न शंभूनाथजी ही झेलें! इन जूतों पर किसीका नाम तो नहीं लिखा है। ये जूते मेरे नहीं है, यह आप कैसे प्रमाणित कर सकते हैं!' हार कर शंभुनाथजी को नंगे पाँव लौटना पड़ा। भोर में कविसम्मेलन के संयोजक आये तो मैंने उन्हें बताया कि जूते खो जाने के कारण शंभुनाथजी को सभास्थल से नंगे पाँव लौटना पड़ा है। संयोजक आरा नगर के विक्रयकर कमिश्नर थे। उन्होंने कहा, 'वाह, यह कैसे हो सकता है कि आप यहाँ से नंगे पाँव जायें! चलिए मैं अभी नये जूते दिलवाता हूँ।' हम लोगों को दुकान खुलने के समय तक रुकने का अवकाश नहीं था परंतु कमिश्नर

साहब के लिए यह कोई समस्या नहीं थी। मुझे और शंभुनाथजी को अपनी कार में बिठाकर वे बाटा कंपनी की दुकान के मैनेजर के घर पर गये और उसकी दुकान खुलवा ली तथा शंभुनाथजी से अपने पाँवों के लिए नये जूते चुनने का आग्रह किया। जब अपनी गाँठ से पैसे नहीं चुकाने हों तो फिर श्रेष्ठ से श्रेष्ठ वस्तु चुनने को किसका मन नहीं चाहेगा ! शंभुनाथजी बाटा कंपनी की दुकान से बहुत बढ़िया क्वालिटी के कीमती जूते पहन कर लौटे। जब कमिश्नर साहब चले गये तो शंभुनाथजी के पाँवों के चमचमाते नये जूतों को देखकर फिर क्षेमजी ने राग छेड़ा। जूते तो मेरे गायब हुए थे, शंभुनाथजी के जूते तो मौजूद हैं। ये जूते गायब हुए जूतों के स्थान पर आये हैं अतः मुझे मिलने चाहिए। पर शंभुनाथजी अब नये कीमती जूते छोड़कर अपने पुराने घिसे-पिटे जूते क्यों लेने लगे ! इस बार क्षेमजी ने मुझे पंच बनाया और करुण स्वर में अपनी गुहार सुनायी। उन्होंने एक तर्क यह भी रक्खा कि शंभुनाथ जी के पुराने जूते उनके पाँवों में कस रहे हैं और उनसे जख्म होने की संभावना है। वे उनके किसी काम के नहीं हैं। परंतु 'अब पछताये होत क्या जब चिड़िया चुग गयी खेत।' मैंने पुनः अपना निर्णय शंभुनाथजी के पक्ष में दिया। क्षेमजी की दृष्टि अंत तक शंभुनाथजी के पाँवों के चमचमाते हुए नये जूतों पर लगी रही। शायद वे मन ही मन अपनी लोभ-वृत्ति को कोस रहे होंगे।